E-ISSN: 2583-9667
Indexed Journal
Peer Reviewed Journal
Impact Factor: 6.49
https://multiresearchjournal.theviews.in

Received: 19-04-2023
Accepted: 28-06-2023
Published: 30-07-2023

INTERNATIONAL JOURNAL OF ADVANCE RESEARCH IN MULTIDISCIPLINARY

Volume 1; Issue 1; 2023; Page No. 1041-1045

पंडित दीनदयाल उपाध्याय का प्रजातांत्रिक दर्शन: एक वैचारिक पुनरावलोकन

श्री प्रभाकर

एम.ए., नेट (राजनीति विज्ञान), 2 /24 आवास-विकास कॉलोनी, मैनपुरी, उत्तर-प्रदेश, भारत

DOI: https://doi.org/10.5281/zenodo.19509779

Corresponding Author: श्री प्रभाकर

सारांश

प्रस्तुत शोध पत्र पंडित दीनदयाल उपाध्याय के राजनीतिक चिंतन के उस पक्ष को उद्घाटित करता है, जिसे उन्होंने 'लोकतंत्र के भारतीयकरण' की संज्ञा दी थी। उपाध्याय जी का मानना था कि स्वतंत्रता के उपरांत भारत ने जिस लोकतांत्रिक ढांचे को स्वीकार किया, वह काफी हद तक पश्चिमी नकल था और भारतीय जनमानस की 'चिति' (आत्मा) से मेल नहीं खाता था। उन्होंने तर्क दिया कि लोकतंत्र केवल संख्याबल का खेल नहीं, बल्कि एक ऐसी जीवन-पद्धति है जो 'धर्म' (नैतिक मर्यादा) और 'अंत्योदय' (अंतिम व्यक्ति का उत्थान) पर टिकी होनी चाहिए। यह लेख उनके द्वारा प्रतिपादित 'लोकमत-परिष्कार' और सहभागी शासन की दार्शनिक प्रासंगिकता का विश्लेषण करता है, जो आज के चुनावी दौर में अत्यंत महत्वपूर्ण है।

मूलशब्द: प्रजातांत्रिक दर्शन, एकात्म मानववाद, लोकमत-परिष्कार, अंत्योदय, धर्म-राज्य, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद, वैचारिक सहिष्णुता, निर्वाचकीय शुद्धि, भारतीय चिति, दलीय शुचिता, नागरिक चेतना, वैधानिक निष्ठा, सत्ता-अनासक्ति, स्वदेशी जनतंत्र।

प्रस्तावना

उपोद्घात: स्वदेशी प्रजातंत्र की ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

पंडित दीनदयाल उपाध्याय के राजनीतिक दर्शन का मूलाधार भारत की सांस्कृतिक विरासत है। उनका स्पष्ट मत था कि भारत की नियति पश्चिमी विचारधाराओं के अंधानुकरण में नहीं, बल्कि अपनी मौलिक जड़ों को पहचानने में निहित है। उनके अनुसार, लोकतंत्र भारत के लिए कोई विदेशी उपहार नहीं है जिसे हमने ब्रिटिश काल के दौरान प्राप्त किया, अपितु यह हमारी रगों में सदियों से प्रवाहित है। प्राचीन भारतीय ग्रंथों में वर्णित 'सभा' और 'समिति' जैसी संस्थाएं इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि भारत में निर्णय प्रक्रिया सदैव विकेंद्रीकृत और सहभागी रही है।

उपाध्याय जी ने इस बात पर बल दिया कि प्राचीन भारत में राजा कभी भी निरंकुश नहीं होता था। वह 'राजदंड' धारण तो करता था, परंतु वह स्वयं 'धर्म-दंड' (नैतिक विधान) के अधीन होता था। यही 'धर्म का शासन' वास्तव में लोकतंत्र का वह परिष्कृत रूप है, जिसे पश्चिम ने बहुत बाद में 'कानून के शासन' के रूप में समझा। उनके चिंतन में स्वदेशी प्रजातंत्र का अर्थ केवल मतदान तक सीमित नहीं था, बल्कि यह एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था थी जहाँ प्रत्येक व्यक्ति के अधिकार उसके कर्तव्यों के साथ समन्वित थे।

उन्होंने स्वाधीनता के बाद अपनाई गई प्रशासनिक और राजनीतिक व्यवस्था की आलोचना करते हुए कहा कि हमने केवल अंग्रेजों द्वारा छोड़ी गई कुर्सियों पर कब्जा किया है, लेकिन व्यवस्था की आत्मा अभी भी विदेशी ही बनी हुई है। उनके लिए प्रजातंत्र एक 'संस्कार' था, जो परिवार से शुरू होकर राष्ट्र तक विस्तृत होता है। उन्होंने पश्चिमी धर्मनिरपेक्षता को भी भारतीय संदर्भों में अपर्याप्त माना और कहा कि भारत का लोकतंत्र 'पंथनिरपेक्ष' होने के साथ-साथ 'सांस्कृतिक रूप से सजग' होना चाहिए। इस प्रकार, उनका प्रारंभिक विमर्श हमें एक ऐसे आत्मनिर्भर और आत्म-गौरव से युक्त भारत की कल्पना देता है, जहाँ तंत्र जनता पर थोपा हुआ न होकर जनता के भीतर से उपजा हुआ हो।

पाश्चात्य जनतंत्र बनाम भारतीय जीवन-दर्शन: एक विवरणात्मक तुलना: पंडित दीनदयाल उपाध्याय ने यूरोपीय और अमेरिकी लोकतांत्रिक प्रणालियों का अत्यंत सूक्ष्म और तात्विक अन्वेषण किया। उनके विश्लेषण का मुख्य निष्कर्ष यह था कि पश्चिमी लोकतंत्र का उद्भव 'व्यक्तिवाद', 'पूंजीवाद' और 'अधिकार-प्रधान' दृष्टिकोण की कोख से हुआ है। वहां की व्यवस्था में मनुष्य को अक्सर एक 'आर्थिक इकाई' या केवल एक 'उपभोक्ता' के रूप में देखा जाता है। इसके विपरीत, भारतीय जीवन-दर्शन व्यक्ति को एक आध्यात्मिक और सामाजिक इकाई मानता है, जो परिवार, समाज, प्रकृति और राष्ट्र के साथ एक अटूट 'एकात्म' संबंध में बंधा हुआ है। पश्चिमी तंत्र में 'बहुमत' (Majority) को ही सर्वोच्च और निर्विवाद शक्ति मान लिया गया है, परंतु उपाध्याय जी ने इस पर एक गंभीर दार्शनिक प्रश्नचिह्न लगाया। उन्होंने तर्क दिया कि यदि 51 प्रतिशत लोग संगठित होकर शेष 49 प्रतिशत लोगों के न्यायसंगत अधिकारों का हनन करते हैं, तो उसे किसी भी स्थिति में वास्तविक लोकतंत्र नहीं कहा जा सकता। उनके अनुसार, सच्चा प्रजातंत्र वह है जो 'बहुमत के शासन' से ऊपर उठकर 'सर्वजन हिताय' और 'अंत्योदय' की सिद्धि करे।

उपाध्याय जी ने आगाह किया कि पाश्चात्य लोकतंत्र अक्सर 'भीड़तंत्र' की ओर झुक जाता है क्योंकि वहां 'शाश्वत मूल्यों' की तुलना में 'संख्यात्मक बल' को अधिक महत्व दिया जाता है। उन्होंने तत्कालीन औद्योगिक क्रांति के परिणामों की चर्चा करते हुए स्पष्ट किया कि पूंजीवादी शोषण ने सामान्य मनुष्य को उत्पादन का एक निर्जीव और यांत्रिक साधन बना दिया है। पश्चिमी प्रजातंत्र में आर्थिक शक्ति का संकेंद्रण कुछ ही प्रभावशाली हाथों में सिमट जाता है, जिसके परिणामस्वरूप राजनीतिक समानता केवल संवैधानिक दस्तावेजों तक सीमित रह जाती है। भारतीय अवधारणा में 'आर्थिक लोकतंत्र' (Economic Democracy) और 'राजनैतिक लोकतंत्र' एक-दूसरे के अनिवार्य पूरक हैं। जब तक समाज के अंतिम छोर पर खड़े व्यक्ति के पास गरिमापूर्ण जीवन जीने के न्यूनतम साधन नहीं होंगे, तब तक केवल मत देने का अधिकार एक औपचारिकता मात्र बनकर रह जाएगा।

इसके अतिरिक्त, उन्होंने 'वैचारिक समन्वय' के भारतीय सिद्धांत पर विशेष बल दिया। पश्चिमी शैली की दलीय राजनीति में सत्ता पक्ष और विपक्ष अक्सर एक-दूसरे के शत्रु की तरह व्यवहार करते हैं, जहाँ संवाद के बजाय केवल विरोध का स्वर प्रधान होता है। इसके विपरीत, भारतीय परंपरा 'वाद-विवाद' के माध्यम से 'तत्वबोध' (सत्य की खोज) की रही है। उपाध्याय जी ने वाल्टेयर के अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता वाले विचार का सम्मान तो किया, लेकिन उसे भारतीय 'नैतिक मर्यादा' के साथ जोड़ने का महती सुझाव दिया। उनके लिए लोकतंत्र का अर्थ केवल विरोध के लिए विरोध करना नहीं, बल्कि परस्पर विरोधी मतों के बीच एक ऐसा रचनात्मक संतुलन खोजना था जो राष्ट्र की 'चिति' (राष्ट्रीय अंतरात्मा) के अनुकूल हो। इस प्रकार, उनकी यह तुलना केवल दो शासन-प्रणालियों का अंतर नहीं थी, बल्कि दो भिन्न जीवन-दृष्टियों के बीच का गहन वैचारिक मंथन था।

जनमानस-संस्कार: नागरिक चेतना का परिशोधन

उपाध्याय के संपूर्ण राजनीतिक चिंतन का सर्वाधिक मौलिक और आधारभूत बिंदु 'लोकमत-परिष्कार' है, जिसे हम यहाँ 'जनमानस-संस्कार' के रूप में परिभाषित कर रहे हैं। उपाध्याय जी का यह दृढ़ विश्वास था कि केवल वयस्क मताधिकार की संवैधानिक व्यवस्था कर देने से ही कोई राष्ट्र वास्तविक अर्थों में लोकतांत्रिक नहीं बन जाता। यदि किसी राष्ट्र की जनता वैचारिक रूप से अपरिपक्व, संस्कारहीन या संकीर्ण स्वार्थों से ग्रसित है, तो वह लोकतंत्र का उपयोग राष्ट्र निर्माण के बजाय विनाशकारी प्रवृत्तियों की संतुष्टि के लिए कर सकती है। उनके अनुसार, लोकतंत्र की वास्तविक सफलता के लिए जनता का 'निरंतर मानसिक और नैतिक उन्नयन' एक अपरिहार्य शर्त है। इसे उन्होंने एक 'सांस्कृतिक प्रक्रिया' के रूप में देखा, जिसका उद्देश्य नागरिक को उसके अधिकारों के साथ-साथ उसके राष्ट्रीय उत्तरदायित्वों के प्रति सजग करना है।

उपाध्याय जी का तर्क था कि लोकमत का निर्माण केवल लोकलुभावन नारों, विज्ञापनों या चुनावी प्रलोभनों से नहीं होना चाहिए, बल्कि यह 'सत्य' और 'धर्म' के शाश्वत आलोक में होना चाहिए। उन्होंने बुद्धिजीवियों, चिंतकों और विशेषकर राजनीतिक कार्यकर्ताओं का यह आह्वान किया कि वे केवल सत्ता प्राप्ति के पीछे न भागें, बल्कि जनता के बीच जाकर उनके 'सद्विवेक' को जाग्रत करें। जैसे भारतीय परंपरा में एक विरक्त संन्यासी राग-द्वेष से ऊपर उठकर समाज का निःस्वार्थ मार्गदर्शन करता है, वैसे ही लोकतंत्र के संचालकों को भी व्यक्तिगत लाभ की आकांक्षा से ऊपर उठकर राष्ट्रहित का प्रशिक्षण देना चाहिए। उन्होंने स्पष्ट किया कि यदि नागरिकों में 'कर्तव्य-बोध' का अभाव होगा, तो लोकतंत्र अंततः 'अवसरवाद' की भेंट चढ़ जाएगा, जहाँ नैतिकता का कोई स्थान नहीं होगा।

'जनमानस-संस्कार' का गूढ़ अर्थ यह है कि नागरिक को इस तथ्य का बोध कराया जाए कि उसका एक वोट केवल एक राजनीतिक प्रक्रिया का हिस्सा नहीं है, बल्कि राष्ट्र की नियति और दिशा निर्धारित करने वाली एक पवित्र 'अमानत' है। शासन और प्रशासन का यह प्राथमिक नैतिक दायित्व होना चाहिए कि वे समाज में ऐसा वातावरण निर्मित करें जहाँ जनता निर्भय होकर, बिना किसी बाह्य दबाव या लालच के अपनी स्वतंत्र राय व्यक्त कर सके। उपाध्याय जी के अनुसार, लोकतंत्र को कभी भी अपनी मर्यादा की सीमाओं का उल्लंघन नहीं करना चाहिए और जनता की राय हमेशा उनके 'सांस्कृतिक विश्वासों' और 'धर्म' के साथ सामंजस्य बिठाकर चलनी चाहिए। यह संस्कार की प्रक्रिया ही वह 'सुरक्षा कवच' है जो लोकतंत्र को 'भीड़तंत्र', 'तानाशाही' या 'अराजकता' में परिवर्तित होने से रोकती है। उन्होंने निष्कर्ष दिया कि जब तक समाज के भीतर से अनुशासन और शुचिता उत्पन्न नहीं होगी, तब तक बाहर से थोपे गए कानूनी नियम कभी पूर्णतः सफल नहीं होंगे। अतः, जनमानस का संस्कार ही वह सुदृढ़

आधारशिला है जिस पर एक न्यायपूर्ण और तेजस्वी भारतीय प्रजातंत्र का भवन निर्मित किया जा सकता है।

सुदृढ़ जनतंत्र के आधारभूत अधिष्ठान: वैचारिक उदारता, अनासक्ति और संवैधानिक निष्ठा

पंडित दीनदयाल उपाध्याय का यह स्पष्ट दार्शनिक मत था कि किसी भी राष्ट्र का प्रजातंत्र केवल उसके लिखित संविधान की धाराओं से नहीं, बल्कि वहां के नागरिकों और राजनेताओं के 'मानसिक संस्कारों' से संचालित होता है। उनके अनुसार, यदि समाज में नैतिक मूल्यों का अभाव है, तो श्रेष्ठ से श्रेष्ठ वैधानिक ढांचा भी अंततः निष्प्राण सिद्ध होगा। उन्होंने एक सफल और गौरवशाली जनतंत्र की स्थापना हेतु तीन अनिवार्य मनोवैज्ञानिक स्तंभों का प्रतिपादन किया, जो किसी भी लोकतांत्रिक समाज की रीढ़ होते हैं-

क) वैचारिक उदारता एवं आत्म-संयम (Tolerance and Restraint)

उपाध्याय जी ने 'सहिष्णुता' को जनतंत्र की जीवन-धारा का आदि स्रोत माना है। उनके दर्शन में इसका अर्थ केवल दूसरे के अस्तित्व को झेलना नहीं, अपितु विरोधी के दृष्टिकोण में छिपे हुए सत्य के अंश को स्वीकार करने की 'हृदय-विशालता' है। उन्होंने आगाह किया कि लोकतंत्र 'संवाद' और 'तत्वबोध' की निरंतर प्रक्रिया है; यदि हम केवल अपने हठ को ही अंतिम सत्य मानेंगे, तो वह 'कंठ-शोष' (व्यर्थ का शोर) मात्र रह जाएगा। 'मर्यादा' उनके संपूर्ण राजनीतिक जीवन का प्राण तत्व है। उन्होंने स्पष्ट किया कि आचरण की शुचिता और भाषा की शालीनता ही वह विभाजक रेखा है जो एक 'मर्यादित लोकतांत्रिक समाज' और एक 'उच्छृंखल भीड़' के बीच अंतर स्पष्ट करती है। एक परिपक्व तंत्र में विवादों का निस्तारण संख्या-बल के अहंकार या बाहुबल से नहीं, बल्कि तर्कसंगत विवेचना और परस्पर सम्मान के भाव से होना चाहिए।

ख) पद-अनासक्ति एवं सेवा-संकल्प (Detachment and Service Motive)

सत्ता के प्रति राजनेताओं की मनोवृत्ति कैसी होनी चाहिए, इस पर उपाध्याय जी ने 'राम-राज्य' के शाश्वत आदर्शों को प्रस्तुत किया। उन्होंने 'सत्ता-लिप्सा' और 'लोलुपता' को लोकतंत्र का दीमक माना। उनके अनुसार, सत्ता कोई अधिकार या व्यक्तिगत उपलब्धि नहीं, बल्कि समाज द्वारा प्रदत्त एक 'न्यास' (Trust) है। उन्होंने एक 'क्रीड़ा-भाव' की उपमा देते हुए कहा कि जैसे एक खिलाड़ी पूरे कौशल और निष्ठा से खेलता है, परंतु परिणाम को समान धैर्य और खेल भावना के साथ स्वीकार करता है, वैसे ही राजनेताओं को चुनाव को एक सेवा-प्रतिस्पर्धा की तरह लेना चाहिए। विजय का मद और पराजय का क्षोभ, दोनों ही लोकतांत्रिक स्वास्थ्य के लिए अत्यंत घातक हैं। जब राजनेता निजी क्षति की परवाह किए बिना राष्ट्रहित में पद का मोह छोड़ने को तत्पर रहता है, तभी वह वास्तविक 'लोकतंत्राग्रणी' बनता है।

ग) विधि-विधान के प्रति स्वाभाविक अनुराग (Respect for Law)

उपाध्याय जी के अनुसार, 'विधि का शासन' एक राजनैतिक ढांचा है, परंतु 'विधि का समादर' करना एक सुसंस्कृत समाज का सर्वोपरि लक्षण है। जहाँ नागरिक और जनप्रतिनिधि स्व-प्रेरणा से नियमों का अनुपालन करते हैं, वहाँ राज्य की दमनकारी शक्तियों की आवश्यकता न्यूनतम हो जाती है। उन्होंने चेताया कि यदि समाज में 'नैतिक रिक्तता' या 'अविश्वास' आ जाए, तो लोग नियमों के उल्लंघन में गौरव का अनुभव करने लगते हैं, जो अंततः 'अराजकतावाद' की ओर ले जाता है। मर्यादाओं का सहज पालन करने वाला समाज ही जनतंत्र की वास्तविक शक्तियों का उपभोग कर सकता है। अतः, लोकतंत्र की सर्वांगीण सिद्धि हेतु ऐसी सामाजिक संरचना आवश्यक है जहाँ व्यक्ति अपनी स्वाधीनता का उपयोग किसी बाह्य दबाव या दंड के भय में नहीं, बल्कि अपने 'सद्विवेक' और 'अंतःकरण' की पुकार पर करे।

दलीय विमर्श, निर्वाचकीय शुद्धि और राष्ट्र-बोध की चुनौतियां

पंडित दीनदयाल उपाध्याय राजनैतिक दलों के 'आंतरिक जनतंत्र' और निर्वाचन प्रक्रिया की शुचिता के प्रबल समर्थक थे। उनका मानना था कि राजनैतिक दल लोकतंत्र की 'जीवन-वाहिकाएं' हैं, परंतु यदि इन वाहिकाओं में ही स्वार्थ, संकीर्णता और अवसरवाद का विष घुल जाए, तो संपूर्ण राष्ट्र का राजनैतिक और सामाजिक ढांचा जर्जर हो जाता है। इस विषय पर उनके विचार अत्यंत गंभीर और भविष्योन्मुखी हैं-

क) राजनैतिक दलों का तात्विक स्वरूप एवं शुचिता

उपाध्याय जी ने इस बात पर गहरी चिंता व्यक्त की कि भारत में राजनैतिक दल अक्सर केवल नाममात्र के संगठन रह गए हैं। उन्होंने दलों की 'आंतरिक शक्तिहीनता' और 'वैचारिक शून्यता' को समाज की अवांछित प्रवृत्तियों के उदय का मुख्य कारण माना। उनके अनुसार, एक श्रेष्ठ राजनैतिक दल केवल सत्ता-प्राप्ति हेतु एकत्रित 'महत्वाकांक्षी व्यक्तियों का समूह' न होकर, एक 'सजीव विचार-प्रवाह' (Living Organization) होना चाहिए, जिसकी अपनी विशिष्ट पहचान, सिद्धांत और कार्य-पद्धति हो। उन्होंने उन तीन प्रमुख बाधाओं का स्पष्ट उल्लेख किया जो दलों के चरित्र को धूमिल करती हैं: (1) सामंती या राजा-महाराजाओं का प्रभाव, (2) संकीर्ण जातीयता का जहर, और (3) पूंजीपतियों का धन-बल। जब कोई दल इन प्रभावों के अधीन हो जाता है, तो वह जन-सामान्य की वास्तविक आकांक्षाओं का गला घोंट देता है। उनके अनुसार, दलों का अनुशासन किसी दंड या डर पर नहीं, बल्कि कार्यकर्ताओं के 'समर्पण' और 'वैचारिक स्पष्टता' पर आधारित होना चाहिए।

ख) निर्वाचक-जागृति एवं चुनावी संस्कार (Voter Awareness and Reforms)

निर्वाचन प्रक्रिया की शुचिता पर चर्चा करते हुए उपाध्याय जी ने कहा कि 'निर्वाचक की प्रज्ञा' ही जनतंत्र की सभी व्याधियों की एकमात्र अचूक औषधि है। उन्होंने मतदाताओं से अपील की कि वे किसी 'प्रचार-तन्त्र' या 'छद्म-लहरों' के भ्रम में न आएं। उनके अनुसार, मतदान एक 'पवित्र अनुष्ठान' और व्यक्ति के 'विवेक की कसौटी' है। उन्होंने मतदाताओं को पांच मूलभूत सूत्रों का स्मरण कराया-

1. अपने मत का उपयोग 'शाश्वत सिद्धांतों' के संरक्षण हेतु करें, न कि क्षणिक प्रलोभनों या व्यक्तियों के लिए।
2. चुनाव परिणाम की चिंता छोड़कर केवल 'प्रत्याशी की श्रेष्ठता' का चयन करें; केवल जीतने वाले के साथ भीड़ में खड़े होना लोकतंत्र नहीं है।
3. मताधिकार आपके व्यक्तित्व की अमूल्य थाती है, इसे कभी भी सौदेबाजी, लालच या उपेक्षा का विषय न बनाएं।
4. मतदान आपकी 'स्वाधीनता' का उद्घोष है, अतः इसका प्रयोग किसी के निर्देश पर नहीं बल्कि स्वयं के स्वतंत्र विवेक से करें।
5. जनता ही राजनैतिक दलों की वास्तविक 'भाग्य-विधाता' है, यह बोध प्रत्येक नागरिक में सदैव जाग्रत रहना चाहिए।

ग) राष्ट्रीय एकात्मता और अवसरवाद का प्रतिरोध:

उपाध्याय जी ने 'राष्ट्र-बोध' और 'जनतंत्र' को एक-दूसरे का पूरक माना। उन्होंने चेतावनी दी कि यदि जनतंत्र दुर्बल हुआ या समाप्त हुआ, तो भारत की अखंडता और एकता भी सुरक्षित नहीं रहेगी। उन्होंने 'प्रादेशिकता' और 'जातिवाद' को ऐसे विखंडक तत्व माना जो राष्ट्र के अस्तित्व को खंडित करने का सामर्थ्य रखते हैं। विशेष रूप से, उन्होंने 'सिद्धांतहीन समझौतों' और 'अवसरवादी गठबंधनों' (Opportunistic Alliances) की तीव्र भर्त्सना की। उनका तर्क था कि केवल सत्ता हथियाने हेतु विपरीत ध्रुवों का मिलन जनता में 'हताशा' और 'नकारात्मकता' उत्पन्न करता है। ऐसे समझौते देश में अनैतिक तत्वों को बढ़ावा देते हैं और समाज में निरंतर कलह का बीजारोपण करते हैं। उन्होंने राजनीति को 'आदर्श-वाद' और 'नीतिशास्त्र' से जोड़ने पर बल दिया और कहा कि प्रतिकूल कालखंड में भी सिद्धांतों पर अडिग रहना ही वास्तविक नेतृत्व की कसौटी है।

निष्कर्ष: भारतीय प्रजातंत्र का भविष्य और युगांतकारी दृष्टि

पंडित दीनदयाल उपाध्याय के प्रजातांत्रिक विमर्श का समग्र अनुशीलन यह स्पष्ट करता है कि उनका राजनीतिक चिंतन किसी तात्कालिक राजनैतिक लाभ की परिधि में आबद्ध नहीं था, बल्कि वह राष्ट्र की 'चिति' (सामूहिक अंतरात्मा) को पुनर्जाग्रत करने का एक महान अनुष्ठान था। निष्कर्षतः, उपाध्याय जी का दर्शन हमें यह बोध कराता है कि लोकतंत्र केवल मतों के यांत्रिक ध्रुवीकरण या सत्ता हस्तांतरण की एक निर्जीव प्रक्रिया मात्र नहीं है; यह तो एक जीवंत और संस्कारित सामाजिक व्यवस्था है, जिसका चरम लक्ष्य व्यक्ति का सर्वांगीण उत्कर्ष और राष्ट्र की एकात्मता है। उन्होंने पश्चिमी लोकतंत्र की उन सीमाओं को अत्यंत साहस के साथ रेखांकित किया, जहाँ व्यवस्था केवल 'बहुमत के अहंकार' और 'पूंजीवादी प्रलोभनों' के अधीन होकर अपनी आत्मा खो देती है। उनके अनुसार, भारत की लोकतांत्रिक यात्रा तब तक अधूरी रहेगी, जब तक वह अपनी सांस्कृतिक जड़ों से पोषण प्राप्त नहीं करेगी।

उपाध्याय जी के विचारों का सार यह है कि एक सफल प्रजातंत्र की कसौटी 'अंत्योदय' है-अर्थात समाज की अंतिम पंक्ति में खड़े व्यक्ति का कल्याण। जब तक राजनैतिक स्वतंत्रता आर्थिक न्याय और सामाजिक समरसता के साथ एकाकार नहीं होती, तब तक लोकतंत्र का भवन रेत की नींव पर खड़ा प्रतीत होता है। उन्होंने 'लोकमत-परिष्कार' (जनमानस-संस्कार) के माध्यम से जिस 'नैतिक समाज' की परिकल्पना की, वह आज के सूचना-क्रांति और प्रोपेगेंडा के दौर में और भी अधिक प्रासंगिक हो गई है। उनके अनुसार, एक विवेकशील मतदाता और सिद्धांतों के प्रति समर्पित राजनैतिक दल ही लोकतंत्र के वास्तविक प्रहरी हैं। उन्होंने अवसरवाद और अनैतिक गठबंधनों को राष्ट्र के स्वास्थ्य के लिए घातक माना और राजनीति को 'नीतिशास्त्र' के साथ पुनः जोड़ने का महती आह्वान किया।

अंततः, दीनदयाल उपाध्याय का प्रजातंत्र विषयक दर्शन 'राष्ट्रवाद' और 'मानवतावाद' का एक अनुपम संगम है। उनका चिंतन यह दिशा-निर्देश देता है कि लोकतंत्र की सफलता केवल बाहरी वैधानिक ढांचे में नहीं, बल्कि नागरिकों के 'सहिष्णुता', 'अनासक्ति' और 'वैधानिक निष्ठा' जैसे आंतरिक गुणों में निहित है। यदि भारत को विश्व पटल पर एक आदर्श लोकतंत्र के रूप में स्वयं को स्थापित करना है, तो उसे 'संख्याबल के शासन' से ऊपर उठकर 'मर्यादा के शासन' की ओर बढ़ना होगा। उपाध्याय जी के ये विचार आज भी एक प्रकाश-स्तंभ की भांति हमारा मार्ग प्रशस्त करते हैं, जो हमें एक ऐसे सुदृढ़, पारदर्शी और मूल्य-आधारित लोकतांत्रिक भारत के निर्माण की प्रेरणा देते हैं, जहाँ प्रत्येक नागरिक अपनी स्वाधीनता का उपयोग राष्ट्र के गौरव को अक्षुण्ण रखने हेतु करे। उनका यह दर्शन केवल अतीत की व्याख्या नहीं, अपितु भविष्य के उन्नत भारत का एक मुकम्मल ब्लूप्रिंट है।

संदर्भ

1. डॉ. हरिश्चंद्र बर्थवाल, "पंडित दीनदयाल उपाध्याय: व्यक्तित्व एवं जीवनदर्शन", दीनदयाल शोध संस्थान, नई दिल्ली।
2. अमरजीत सिंह, "एकात्म मानववाद के प्रणेता दीनदयाल उपाध्याय", प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 2016।
3. डॉ. कौशल किशोर मिश्रा एवं डॉ. शिवाली अग्रवाल, "भारतीय राजनीति में पं. दीनदयाल उपाध्याय और भारतीय जनता पार्टी का योगदान", अनु बुक्स, मेरठ, 2018।
4. पं. दीनदयाल: महाप्रस्थान, विचार, दर्शन, नई दिल्ली, 1992।
5. मनोज खोसला, 'युगपुरुष', राज पब्लिकेशन, 2014।

6. डॉ. कौशल किशोर मिश्रा एवं डॉ. शिवाली अग्रवाल, "डॉ. भीमराव अम्बेडकर व दीनदयाल उपाध्याय, तुलनात्मक अध्ययन", अनु बुक्स, 2018।
7. डॉ. संजीव शर्मा, 'अखण्ड भारत पुस्तक माला', अनु बुक्स, 2018।
8. शोध मंथन (Journal), Vol. 9, Issue 4, ISSN: (P): 0976-5255, (e): 2454-339X, Impact Factor 5.463 (SJIF), Dec. 2018।

Creative Commons (CC) License
This article is an open access article distributed under the terms and conditions of the Creative Commons Attribution (CC BY 4.0) license. This license permits unrestricted use, distribution, and reproduction in any medium, provided the original author and source are credited.